संवाद

बाघ तो बच गये, पर बेटियां?

मृणाल पाण्डे

खबर है कि गए दस सालों में हमारे देश में बाघों की तादाद बढ़ी है, लेकिन खबर यह भी है कि इस दौरान 0 से 6 साल की उम्र की बच्चियों की तादाद तेज़ी से घटी है। बाघ हमारा राष्ट्रीय पशु है। आरक्षित श्रेणी में आता है। चूंकि उसकी खाल, हड्डी, दिल, गुर्दा सबको एशियाई बाज़ारों में भारी मुनाफ़े पर बेचा जा सकता है, पिछले सालों में लालची तस्करों ने बड़ी तादाद में बाघों की चोरी छुपे हत्या कर अंतर्राष्ट्रीय बाज़ारों में उनके अवशेषों की इतनी कालाबाज़ारी की कि यह प्रजाति दुर्लभ हो चली थी। तब 'बाघ बचाओ' की बड़ी मुहिम छेड़ी गई जिससे तमाम स्कूल, टीवी चैनल और गैर सरकारी संगठन आ जुड़े। तस्करों पर छापे पड़े, धर पकड़ की गई और मीडिया को जन चेतना जगाने वाले विज्ञापनों से पाट दिया गया। अब खबर आई है कि बाघों की तादाद लगभग हर संरक्षित वन में बढ़ रही है— बधाई।

पर कन्या शिशु की प्रजाति का क्या होगा? वह तो आज भी उपेक्षित-अरक्षित है, सबसे ज़्यादा अपने घर के भीतर, परिवार के अपनों द्वारा वह गर्भ में लिंग निर्धारण के बाद गर्भपात से, जन्म लेते ही गुपचुप सौरी में, और फिर भी बची रही तो लगातार उपेक्षा और कुपोषण से सुखा कर पांच वर्ष की होते न होते मारी जा रही है। नतीजतन अभी वर्ष 2011 की दस साला जनगणना के जो सरकारी आंकड़े आए हैं उनके अनुसार 0 से 6 साल के आयु वर्ग में वर्ष 2001 में जहां 1000 लड़कों के पीछे 927 बच्चियां थीं, आज सिर्फ़ 914 बची हैं।

वैसे कहने को देश में औरत मर्दों के बीच औसत लिंगानुपात में सामान्य सुधार हुआ है। लेकिन यह सांत्वना का विषय नहीं। पिछले दस सालों में आबादी में औरतों की तादाद बढ़ी दिखने की असल वजह यह है कि इन बरसों में कुल आबादी भी बढ़ी है। बच्चियों के क्रमशः लोप होने के असल आंकड़े तो कुल व्यस्क औरतों, मर्दों के बीच आबादी में बड़े असंतुलन के रूप में तनिक आगे जाकर उजागर होंगे। यह भी चिंता का विषय है कि बच्चियों की तादाद जिन राज्यों (दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, जम्मू-कश्मीर, दादरा-नगर हवेली, नागालैण्ड, मणिपुर तथा सिक्किम) में सबसे तेज़ी से घटी है, उनका स्तर आर्थिक, स्वास्थ्य कल्याण सुविधाओं और शैक्षिक पैमानों पर देश के सामान्य औसत से बेहतर हैं। यानी मात्र पिछड़े राज्यों में व्यापक गरीबी और अशिक्षा के कारण उतनी बच्चियां नहीं मर हीं जितनी की खाते-पीते, तरक्की कर रहे राज्यों में। खाते-पीते लोगों के बीच।

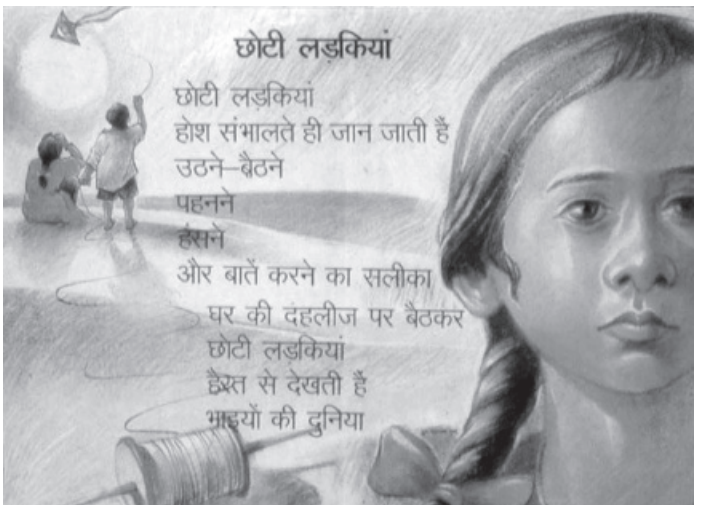

कन्या भ्रूण का पता करने की खर्चीली, गैरकानूनी, निजी चिकित्सा सुविधाओं की मदद लेते हुए जन्म से पहले ही गर्भपात करवा कर उनके घरों मे इतने बड़े पैमाने पर बच्चियों का ऐसा सफाया हो गया है कि अब पंजाब या हरियाणा सरीखे राज्यों में नवरात्रि में कन्या पूजन

के लिए आठ कन्याएं इकट्ठा करना भी मुश्किल हो चला है।

यूं अनचाही मानते हुए भी कन्या को पूजने की दोहरी मानसिकता हमारे यहां हर जाति धर्म के लोगों के बीच मौजूद है। बढ़ती शिक्षा दर और परिवार तथा माता पिता का सहारा बनती जा रही कमासुत लड़कियों की तादाद में भारी बढ़ोत्तरी के बावजूद बच्ची का जन्म परिवारों में अनचाहा ही है। परिवार में नवजात के आने की खबर मिलते ही परिवार जनों और पड़ोसियों से लेकर दाई और बधावा गाने वाले किन्नर तक सभी अपनी फीस या नेग इस आधार पर वसूल करते हैं कि लड़का हुआ या लड़की? लड़का हुआ कहते ही उल्लास छा जाता है। दाई किन्नर भरपूर नेग मांगने लगते हैं और पड़ोसी पार्टी। पर बेटी के आगमन की खबर पाने पर एक सकपकाई करुणामय प्रतिक्रिया होती है: चलो जी जान बच गई, कोई नहीं जी, चलो जो ऊपर वाला भेज दे। कोई न कोई यह भी कह देता है कि हाय घर पर डिक्री आ गई बेचारों के। तीसरी-चौथी बेटी हुई तो रोना धोना और प्रसूता की कोख को कोसना भी होने लगता है।

बच्चियों की लगातार घटती आबादी इस बात का भी डरावना प्रमाण है कि हमारे यहां कानून का डर खत्म होता जा रहा है। आधी आबादी को गरिमा से जीने का हक़ देने के लिए बने, भ्रूण हत्या या दहेज या यौन उत्पीड़न अथवा वेश्यावृति के निषेध विषयक सुधारवादी कानून अपने यहां आज भी एक किताबी कवायद ही है। अगर हमारे राज समाज में पर्याप्त आदर्शवादिता होती तो शायद सुधारवादी कानूनों का फायदा उठाकर हमारे शिक्षा संस्थान और महिला आरक्षण से लैस पंचायतें महिलाओं के महत्व को एक प्रखर राष्ट्रीय सच्चाई की शक्ल दे सकते थे। लेकिन जहां जान ही नहीं वहां प्रखरता कैसी?

हमारी शिक्षा और पंचायती राज इकाइयों में (आरक्षण के बावजूद) जान नहीं, यह बात आपको एक उलटबांसी लग सकती है। लेकिन सच तो यह है कि हमारे राज और समाज में ताकत का असली स्रोत आज भी जाति और निजी कानूनों पर टिकी वे संस्थाएं हैं जिनकी कमान पुरुषों के हाथ में है। उनसे निकले फतवों का वज़न हमारे लोकतांत्रिक संविधान, कानून और निर्वाचित पंचायत पर आज भी भारी साबित होता रहता है। स्कूल से संसद तक भले ही नारी सशक्तिकरण पर सैकड़ों सुधारवादी बहसें सुनी जाती रहें, 8 मार्च को नारेबाज़ी जुलूस निकलें, लेकिन स्टाफ़ रूम, घरों, चायखानों या टीवी के रियालिटी शोज़ में झांकने पर हमारी सीधी मुलाकात होती है पुराने ठिकानेदारों, सामंतों और जागीरदारों की मानसिकता से। इन नए सामंतों को आज डबल रोल मिल गया है: एक तरफ नए और युवा शाइनिंग इंडिया की चमक बनाए रखना, और दूसरी तरफ यह सुनिश्चित करना कि पुराने अजर अमर सामाजिकता वाले हिंदुस्तान की परंपराओं को भी खरोंच गहरी न लगे। लिहाज़ा वे अपने क्षेत्र में धर्म, गोत्र आधारित खाप पंचायतों और मुल्लाओं के हुक्म से प्रेम विवाह को दंडित करना या कालेज की लड़कियों के लिए जींस पहनने पर पाबंदी लगाना भी स्वीकार करते हैं और अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस पर स्त्रीशक्ति का गुणगान करते हुए महिला थानों का उद्घाटन कर महिलाओं को साइकिलें, मशीनें बांटते फोटो खिंचाते भी दिखते हैं।

टीवी फुटेज गवाह है कि खुद त्रस्त महिलाएं जब न्याय खोजती हैं तो उनको इन तथाकथित सशक्तिकृत स्कूलों, पंचायतों या महिला थानों में कोई आशा की किरण नहीं दिखाई देती। उनको तो जान और आबरू बचाने को, जो परम भ्रष्ट होते हुए भी उनकी नज़र में सर्वसत्तावान चक्रवर्ती हैं, ऐसे नेताओं के सरे आम पैर पकड़कर उनसे न्याय मांगना ही अधिक आश्वस्तकारक लगता है। पर क्या शिखर नायकों के निजी हस्तक्षेप के भरोसे अपने ही परिवार द्वारा डाक्टरी मदद से देश भर में मारी जा रही बेज़ुबान लड़कियों को बचाया जा सकता है? मदर टेरेसा ने एक बार कहा भी था कि अगर कुदरती रक्षक ही बच्चे को नहीं बचाना चाहते तब तो उसे कोई नहीं बचा सकता। क्या समाज को अपनी बेटियों की बाघों जितनी फ़िक्र भी नहीं होनी चाहिए?